Go lan to Delhi

ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

१०वाँ संस्करण, जून २०१०



ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

(वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यैः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिविरचितः

प्रकाशक/विक्रय-केन्द्र

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

मुख्यालय :

४२७, नयाबांस, दिल्ली-६

चलभाष कार्यालय : ९६५०५२२७७८, ९६५०६२२७७८

मूल्य : १०० रु०

दयानन्दाब्द	:	१८७
विक्रमाब्द	:	२०६७
सृष्टि-संवत्	:	१,९६,०८,५३,१११
पूर्व प्रकाशित	:	३५,८००
प्रस्तुत १०वाँ संस्करण	:	२,०००
कुल योग	:	९,१८,६५०

शब्दयोजना :

वैदिक प्रेस, फोनः २२०८१६४६

मुद्रक :

व्रजवासी आर्ट प्रैस लि०

ए-८१, सैक्टर-५,

नोएडा-२०१३०१ (उ०प्र०)

उपक्रमणिका

महर्षि दयानन्दसरस्वती द्वारा लिखित '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' वेदार्थ-बोध के लिए एक अनुपम ग्रन्थ है । महर्षि ने अपने वेद-भाष्य को ठीक-ठीक समझने और समझाने के लिए ही इस की रचना की । वेदार्थ के पाठक इस के विना महर्षि के वेद-भाष्य को समझ नहीं सकते । स्वयं महर्षि भूमिका का प्रयोजन बताते हुए वेद-भाष्य के विज्ञापन में लिखते हैं—

(१) 'जब भूमिका छप के सज्जनों के दृष्टिगोचर होगी, तब वेद-शास्त्र का महत्त्व जो बड़प्पन तथा सत्यपना भी सब मनुष्यों को यथावत् विदित हो जायेगा ।'

(पत्र और विज्ञापन, पृ० ३९ पर)

(२) 'जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लिया चाहे, सो नहीं मिल सकते ।'

(पत्र और विज्ञापन, पृ० १३८ पर)

(३) 'और यह भी जानना चाहिए कि चारों वेद की भूमिका एक ही है ।' (पत्रविज्ञापन, पृ० ८७)

(४) 'भूमिका चारों वेदों की एक ही है ।' (पत्रविज्ञापन, पृ० ८६)

उपर्युक्त उद्धरणों से जहां भूमिका का प्रयोजन स्पष्ट होता है, वहां इस भ्रम का भी स्वामी जी के लेख से ही निराकरण हो जाता है कि यह भूमिका वेदादि सब शास्त्रों की है। किन्तु चारों वेदों के भाष्य की है । जैसे मकान बनाने से पूर्व नक्शे की आवश्यकता होती है, वैसे ही प्रत्येक वेद-भाष्यकार प्रथम वेद-भाष्य की भूमिका में अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण करता है । अत: भूमिका के विना महर्षि के वेदभाष्य को समझना अत्यन्त दुरूह कार्य है । महर्षि ने इसलिए भूमिका के विना वेदभाष्य देने से मना किया था । परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य ही रहा कि जो आर्य बन्धु तथा सभाएं महर्षि के आदेशों की अवहेलना करके विना भूमिका के वेदभाष्य छापती रही हैं । सायणादि भाष्यों के साथ उन की भूमिकाएं छपी मिलती हैं । हमें इस बात से बहुत ही हार्दिक हर्ष हो रहा है कि 'आर्ष-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट' ने महर्षि के आदेश का पालन करते हुए उन के वेद-भाष्य को यथार्थ में हृदयङ्गम कराने के लिए वेद-भाष्य के साथ भूमिका को छपवाने का प्रबन्ध किया है । क्योंकि लेखक की मूलभूत वैदिक मान्यताओं को समझने के लिए उस की भूमिका का अध्ययन करना परमावश्यक होता है ।

इस विस्तृत भूमिका के बनाने का महर्षि का यह भी प्रयोजन था कि वेद-विषयक जो भी पौराणिक मिथ्या मान्यताएं फैली हुई हैं, जिन के कारण पाश्चात्य विद्वानों को ही नहीं, अपितु कतिपय भारतीय विद्वानों को भी वेदों के विषय में मिथ्या-भ्रम हो गया है । जिस से वेदों का गौरव ही कम नहीं हुआ, किन्तु 'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक हैं, अथवा ईश्वरप्रोक्त हैं, इस में भी लोगों को भ्रान्ति हो गई। महर्षि दयानन्द की इस भूमिका से जहां मिथ्या-मतों की पोल खुली है, वहां सत्यार्थ का प्रकाश होने से सत्यासत्य का निर्णय भी पाठक कर सकते हैं ।

यद्यपि सायणादि वेद-भाष्यकारों ने भी अपनी-अपनी भूमिकाएं बनाई हैं, परन्तु उन में प्रथम तो आवश्यक मान्यताओं का वर्णन ही नहीं मिलता है और जिन का मिलता है उन में अनेक गलत हैं और जो ठीक हैं उन का उन्होंने स्वयं वेद-भाष्य में पालन नहीं किया है । जैसे वर्तमान में आचार्य

सायण का वेद-भाष्य अधिकतर पठन-पाठन में दृष्टिगोचर होता है, उन्होंने मन्त्रों के प्रतिपाद्य-विषय मुख्य देवता के विषय में ही मौन-धारण कर लिया है । देवतार्थ को विना समझे कैसे मन्त्रार्थ की सङ्गति हो सकती है ? अतएव वेदार्थ का पाठक सायण-भाष्य से सन्देह में ही पड़ा रहता है कि सायण क्या कहना चाहते हैं । ऐसे ही वेदों को ईश्वर-प्रोक्त (अपौरुषेय) मानकर भी वेदों में अनित्य इतिहास मानना, इन्द्रादि देवों को ईश्वरतुल्य समझना, स्वर्ग-नरक लोकविशेषों की कल्पना तथा ईश्वर के साकारवाद को मानकर जड़-पूजा का मानना आदि अनेक सायण की मिथ्या मान्यताएं उनके भाष्य में मिलती हैं ।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में उस प्राचीन ऋषियों की मन्त्रार्थ शैली को अपनाया है, जिस से मिथ्यामतों का खण्डन स्वतः ही हो जाता है । महर्षि अपने वेद-भाष्य की शैली का स्पष्टीकरण करते हुए भूमिका के अन्त में लिखते हैं–

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः ॥

अर्थात् इस मन्त्र-भाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि मन्त्रार्थभूमिका=प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है । फिर मूलमन्त्र । उस का पदच्छेद । क्रम से प्रमाण-सहित मन्त्र के पदों का अर्थ । अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है । इस क्रम से मन्त्र-भाष्य बनाया जाता है ।

वेद-भाष्य की इस शैली से कोई भी विद्वान् वेदों में इतिहासादि मिथ्यामतों की सिद्धि नहीं कर सकता । यह महर्षि की स्पष्ट घोषणा तथा प्राचीन ऋषियों की परम्परा है । भाष्य का लक्षण भी यही है–**नामूलं लिख्यते किञ्चित् । नानपेक्षितमुच्यते** ।' अर्थात् जो मूल में नहीं है और जिस की आवश्यकता भी नहीं है, उस बात को भाष्य में नहीं रखना चाहिए । महर्षि ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है परन्तु सायणादि ने इस प्राचीन शैली को न अपना कर, स्थान-स्थान पर कल्पनाओं का आश्रय करके मिथ्या-पौराणिक मान्यताओं को जन्म दिया है । यदि वे मन्त्र के देवतार्थ पर विचार करके प्रकरणानुसार मन्त्रों के पदों का ही अर्थ करके भाष्य करते तो वे कदापि मिथ्यामतों को अपने भाष्य में नहीं दिखला सकते थे । उन के वेद-भाष्य के अनर्थ का मूल कारण जहां प्राचीन शैली को छोड़ना है, वहां यह भी कारण हुआ कि वे वेद-भाष्य के अधिकारी भी नहीं थे । निरुक्त के अनुसार वेद-भाष्य करने का अधिकार किस को है ? यह स्पष्ट करते हुए लिखा है–

'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ।' (निरुक्त० १३।१२)

अर्थात् जो मन्त्रार्थ के साक्षात्कर्त्ता ऋषि नहीं हैं, अथवा जो अतपस्वी अर्थात् मलीन अन्तःकरण वाले हैं, उन्हें वेदार्थ करने का अधिकार नहीं है । महर्षि दयानन्द भी लिखते हैं–

"(**प्रश्न**) वेद संस्कृत में प्रकाशित हुए और अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

(**उत्तर**) परमेश्वर ने जनाया । और धर्मात्मा महर्षि योगी लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए ।" (सत्यार्थप्रकाश स० समु०)

ऋषि के इन वचनों से स्पष्ट है कि ईश्वर की समाधि में जो ध्यानावस्थित नहीं हुए हैं, उन

का अन्तःकरण मलीन होने से वे मन्त्रार्थ को कदापि साक्षात् नहीं कर सकते । मनुष्यकृत और ऋषिकृत वेद-भाष्यों में यही महान् मौलिक अन्तर है । मनुष्य अपनी अपूर्ण विद्या के कारण शब्दार्थ की प्रकरणानुसार सङ्गति नहीं लगा सकते । केवल पाण्डित्य के कारण शब्दार्थ ही कर सकते हैं और वह भी असङ्गत । क्योंकि शब्दों के अनेकार्थक होने के कारण प्रकरणविरुद्ध अर्थ कैसे सङ्गत हो सकता है ?

सायणादि पौराणिक भाष्यकारों के भाष्य इसलिए भी अनर्थ करने वाले हुए कि उन्होंने प्राचीन ऋषि-भाष्य निरुक्तादि के सिद्धान्तों को भी छोड़ दिया है । निरुक्त सम्मत वैदिक-पद आख्यातज होते हैं, परन्तु सायण-भाष्य में रूढ अर्थ भी किये हैं । वैदिक कोष निघण्टु, ब्राह्मण आदि का आश्रय न करके लौकिक अर्वाचीन अमरकोषादि का भी सायणादि ने स्पष्ट आश्रय लिया है ।

सायणादि की ऋषि-सम्बन्धी मान्यता भी भ्रान्तिपूर्ण है । **मन्त्रों के आरम्भ में उल्लिखित ऋषियों को ऐतिहासिक न मानकर मन्त्रार्थ में सहायक मानना,** अथवा वेदों को अपौरुषेय मानकर भी मन्त्रान्तर्गत पठित वसिष्ठादि को व्यक्ति विशेष मानकर मन्त्रार्थ करना इत्यादि परस्पर विरुद्ध मान्यताएं सायणादि भाष्यों में स्पष्ट उल्लिखित मिलती हैं । महर्षि दयानन्द ने इन वेद-भाष्यकारों की मौलिक त्रुटियों को बहुत ही गम्भीरता से समझा और वैदिक स्वस्थ मान्यताओं को पुनः प्रसारण हेतु वेदार्थ का प्रकाश किया । महर्षि लिखते हैं कि-"यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्य के अनुकूल बनाया जाता है परन्तु जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, ये सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं । मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता । क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो मेरा भाष्य बनता है, वह तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है । यही इस में अपूर्वता है ।"

(ऋ० भा० भू० भाष्यकरणशङ्का०)

महर्षि के इस लेख से जहां महर्षि के भाष्य की अपूर्वता का बोध हो रहा है, वहां उन विद्वानों की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है, जो यह मिथ्या मान्यता बनाये हुए हैं कि सायण-भाष्य भी ठीक है और महर्षि दयानन्द का भाष्य भी ठीक है । यदि सायण-भाष्य में कर्मकाण्डपरक अर्थ भी सङ्गत होता तो महर्षि ऐसा कदापि नहीं लिखते । महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद-भाष्य में तो प्रारम्भ के २१ सूक्तों के अन्त में निरन्तर सायणादि भाष्यों को मिथ्या-भाष्य बताया है । इस विषय में 'दयानन्द-सन्देश' का 'वेदार्थसमीक्षाङ्क' द्रष्टव्य है । जिस में मैंने सायण-भाष्य के प्रमुख दोषों का दिग्दर्शन सप्रमाण दिखाया है । और ऋग्वेद के प्रथम २१ सूक्तों में सायण-भाष्य का प्रकरण-विरोध, शास्त्रविरोध तथा अर्थों की असङ्गति का स्पष्ट उल्लेख किया है ।

कुछ आर्य विद्वानों की ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका से सम्बद्ध भ्रान्तियाँ

(१) ऋ० भूमिका में भाषार्थ किस का ? इस विषय में श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसकादि विद्वानों की विचारधारा यह है कि भूमिका की संस्कृत महर्षि की है और भाषार्थ पण्डितों का है । मीमांसक जी अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

'हमारी मान्यता तो यह है कि ऋषि के मूल संस्कृत पाठ के अनुसार नवीन यथार्थ भाषानुवाद होना चाहिए । यदि कभी अवकाश मिला तो इस प्रकार का प्रयास किया जायेगा ।' (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ० भा० भू० में सम्पादकीय, पृष्ठ ६)

श्री मीमांसक जी की मान्यता भूमिका के आन्तरिक साक्षी से सर्वथा विपरीत होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'ओ३म् सह नाववतु०' तैत्तिरीयारण्यक के वचन का संस्कृत में भाष्य न होने पर भी भाषा में अर्थ दिया है । ऐसे ही भूमिका में वेद, दर्शन, ब्राह्मण तथा उपनिषदादि के ८५ प्रमाणों का केवल भाषार्थ ही मिलता है । यदि कोई थोड़े में ही देखना चाहे तो भूमिका के वेदोत्पत्ति, मुक्तिविषय तथा उपासना प्रकरण को ध्यान से पढ़कर अनुमान कर सकते हैं कि भूमिका का भाषार्थ मूल संस्कृत के अनुसार कदापि नहीं है । महर्षि ने उपासना विषय में तो स्पष्ट लिखा है–

'एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।' अर्थात् इन की व्याख्या भाषा में की जायेगी । महर्षि के इस वचन को अपनी मान्यता से विरुद्ध देखकर मीमांसक जी ने टिप्पणी में लिख दिया–"यह वाक्य व्यर्थ सा प्रतीत होता है ।"

भूमिका का भाषार्थ प्राय: संस्कृत के अनुसार नहीं है । यदि भूमिका का संस्कृत-भाग भाषार्थ से भिन्न कर दिया जाए तो ग्रन्थ के अधिकतर स्थल अपूर्ण रह जायेंगे और ग्रन्थकर्त्ता के बहुत से परमावश्यक भाव ग्रन्थ से पृथक् हो जायेंगे । इस विषय का विस्तृत विचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ० भा० भूमिका के प्राक्कथन में श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने किया है । पाठक वहां देख सकते हैं ।

यथार्थ बात यह है कि भूमिका के भाषार्थ से श्री मीमांसकादि विद्वानों की मिथ्या-मान्यताएँ मेल नहीं खातीं । अत: उन्होंने भाषार्थ को महर्षि का स्वीकार नहीं किया । जैसे सृष्टिसंवत् विषय में महर्षि ने जो भाषार्थ में लिखा है, वह संस्कृत में तो है नहीं । भाषार्थ को महर्षि का मानें तो एक अरब सत्तानवे करोड़ वाला संवत् कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । अत: ये विद्वान् महर्षि को अपनी मान्यताओं के अनुसार घसीटने के लिए कुछ भी लिख देवें तो भी आश्चर्य क्या है । श्री मीमांसक जी की मान्यता को देखकर अपने को महर्षि का अनन्य भक्त मानने वाले संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ श्री खेमचन्द जी यादव ने तो फतवा ही दे दिया है कि सृष्टिसंवत् विषय में भाषार्थ में केवल ७० पंक्तियां ही प्रामाणिक हैं । शेष बाद की मिलावट हैं । परन्तु संस्कृत-भाषा से अनभिज्ञ होने से यादव जी ऐसा कहें तो आश्चर्य नहीं । क्योंकि वे संस्कृत का भाषार्थ से मिलान नहीं कर सकते । परन्तु संस्कृत भाषा के मूर्धन्य विद्वान् भी ऐसी मिथ्या मान्यता से कैसे ग्रस्त हुए, यह आश्चर्य ही है । और यदि उन की बातों में कुछ तथ्य है तो उन्होंने आज तक हमारे लेख का उत्तर क्यों नहीं दिया? इससे स्पष्ट है कि वे भ्रान्तिवश ही ऐसी टिप्पणी दे गए परन्तु बाद में पश्चात्ताप ही रहा होगा । अत: भूमिका का भाषार्थ महर्षि का ही है पण्डितों का नहीं ।

(२) कुछ आर्य-विद्वानों ने महर्षि की वेदार्थ-शैली का भी दुरुपयोग करने का प्रयास किया

है । महर्षि ने वैदिक पदों को निरुक्त के आधार पर आख्यातज माना है । जिस का ये विद्वान् गलत अर्थ लगा कर यह कहा करते हैं कि वैदिक पदों के यौगिकता अर्थात् धातुप्रत्यय के विभाग के आधार पर जितने भी अर्थ सम्भव हैं, उस पद के उतने अर्थ किये जा सकते हैं । इसी आधार पर आधुनिक वेद-प्रवचन-कर्त्ता मन्त्रों के मनमाने अर्थ करके जनता को रिझाते रहते हैं । जनता तो बिलकुल अनभिज्ञ प्रायः ही है । उस के सामने कुछ भी कह जाओ, वे चुपचाप सुनते रहते हैं । स्वाध्याय की रुचि समाप्त ही हो गई है फिर समझने की योग्यता कैसे आ सकती है ।

परन्तु महर्षि के वेद-भाष्य तथा भूमिका के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि इन विद्वानों की वेदार्थ शैली महर्षि तथा शास्त्रों से विरुद्ध है । प्रत्येक-मन्त्र के ऊपर देवता लिखा है, जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है । जिस से पदों के अर्थ सङ्गत होने चाहिए । निरुक्तकार भी लिखते हैं–

'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः ।' (निरु० १३।१२)

अर्थात् मन्त्रों के अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करने चाहिए । जिस से वैदिक-पदों के अनेकार्थक होने पर भी प्रकरण-सम्बद्ध अर्थ ही सङ्गत होते हैं, अन्य नहीं । अतः पदों के विभिन्न अर्थ होते हुए भी सभी अर्थ सर्वत्र कदापि सङ्गत नहीं हो सकते ।

(३) **मन्त्रार्थ और त्रिविधप्रक्रिया**=आजकल कतिपय आर्य विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है कि वेद के मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं । जैसे श्री पं० आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री अपने सामवेद-भाष्य की भूमिका में त्रिविध प्रक्रिया के विषय में लिखते हैं–

(क) 'सभी वेद-मन्त्रों का अर्थ तीन प्रक्रियाओं में होता है ।' (पृ० ४८)

(ख) 'आर्ष प्रक्रियानुसार प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है । वह तीन प्रकार आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शब्दों से व्यवहृत होता है । इस प्रकार को ही निरुक्तादि शास्त्रों में प्रतिपादित किया है ।' (पृ० २२)

स्वर्गीय वैदिक विद्वान् पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अपने सम्पादित यजुर्वेद-भाष्य की विवरण-भूमिका में इस त्रिविध-प्रक्रिया को प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया है । और अपने मन्तव्य की पुष्टि में यजुर्वेद-भाष्य के विवरण में प्रथम दो अध्यायों में प्रत्येक मन्त्र के ऋषिभाष्य को इस त्रिविध प्रक्रिया में ढालने का असफल प्रयास भी किया है ।

इन दोनों मूर्धन्य विद्वानों ने त्रिविध प्रक्रिया को माना अवश्य है परन्तु स्वयं भी भ्रान्त ही प्रतीत होते हैं । क्योंकि त्रिविध प्रक्रिया को मानकर आचार्य वैद्यनाथ जी ने आधियाज्ञिक, आधिदैविक, आधिभौतिक के अतिरिक्त आध्यात्मिक प्रक्रिया एक और मानी है । ऐसे ही श्री जिज्ञासु जी ने विवरण-भूमिका में तो आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधियाज्ञिक तीन प्रक्रियाएं मानी हैं, परन्तु (यजु० १।३) में, आधिभौतिक प्रक्रिया और स्वीकार कर ली है । श्री जिज्ञासु जी जीवन भर ऋषिभक्त रहे । परन्तु त्रिविध प्रक्रिया के लिए अनार्ष ग्रन्थों के प्रमाण उन्हें कैसे रुचिकर हुए ? यह तो वे ही जानें । उन्होंने एक भी निरुक्तादि शास्त्रों का प्रमाण नहीं दिया, जो त्रिविध प्रक्रिया को सिद्ध करता हो । और जो त्रिविधप्रक्रिया के आधार पर मन्त्रार्थ दिखाये हैं–उन में कोई अर्थ महर्षि के पदार्थ में, कोई अन्वय में, कोई भावार्थ में और कोई भाषार्थ में से लिया है । क्या कोई भाष्यकार अपने भाष्य में इस प्रकार अर्थों की बखेर कर सकता है ? पदार्थ, अन्वय, भावार्थ तथा भाषार्थ सभी भिन्न-भिन्न अर्थों को बतायें । यह कैसी विचित्र कल्पना है ।

इस त्रिविधप्रक्रिया को मानने वाले प्रायः महर्षि दयानन्द के और निरुक्त के निम्न उद्धरणों

को देकर स्वाभीष्ट को सिद्ध किया करते हैं । परन्तु उन से उन का अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं होता। देखिए–

(क) श्री जिज्ञासु जी ने अपने मन्तव्य की पुष्टि में, (भाष्यविवरण, पृ० ३० पर) महर्षि के निम्न उद्धरण दिये हैं–"देवता के महामहिम होने से एक आत्मा की ही बहुत प्रकार से (वेद मन्त्रों में) स्तुति की जाती है ।" महर्षि (ऋ० भा० भू०, पृ० ६५)

(ख) 'इस वेद-भाष्य में जिस जिस मन्त्र का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ होना सम्भव है । उस उस का दोनों प्रकार का अर्थ किया जायेगा परन्तु किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं ।' (ऋ० भा० भू०, पृ० ३६३)

उपर्युक्त उद्धरणों से त्रिविध प्रक्रिया कदापि सिद्ध नहीं होती । महर्षि मन्त्रों के दो प्रकार के अर्थ मानते हैं–(१) पारमार्थिक (२) व्यावहारिक । इन दोनों प्रकार के अर्थों को भी प्रत्येक-मन्त्र में स्वीकार नहीं किया है । जहां-जहां सम्भव है, वहीं-वहीं दोनों प्रकार का अर्थ हो सकता है, सर्वत्र नहीं । महर्षि ने श्लेषालङ्कार से भाष्य में कहीं कहीं दो प्रकार के अर्थ किये भी हैं । और जो देवता की महामहिम होने की बात है, वह भी अन्य विषयक ही है । देखिए महर्षि लिखते हैं–

"सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति । कुतः । आत्मनो माहाभाग्यादर्थात् सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात् ॥" (ऋ० भा० भू०, पृ० ६५)

यहां महर्षि ने 'माहाभाग्यात्' का अर्थ सर्वशक्तिमान् आदि किया है । और वह भी ईश्वरपरक अर्थ किया है । इस से त्रिविधप्रक्रिया का भाव कदापि नहीं निकल सकता ।

और महर्षि के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा लेख नहीं मिलता, जिस से त्रिविध प्रक्रिया सिद्ध होती हो । महर्षि दयानन्द का लेख त्रिविधप्रक्रिया का स्पष्ट खण्डन करता है । देखिए–

"ओ३म्" यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं । इस से क्या सिद्ध हुआ कि जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक शुद्ध सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है ।''''''जहां-जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहां-वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता जहां-जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहां-वहां जीव का ग्रहण होता है । ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ।" (सत्या० प्रथम समु०)

इस से स्पष्ट है कि प्रत्येक मन्त्र के त्रिविध अर्थ कदापि नहीं हो सकते । जिस मन्त्र में सर्वज्ञादि विशेषण होंगे, उस का जीवपरक अथवा प्रकृतिपरक और जिस में अल्पज्ञादि या उत्पत्ति आदि विशेषण होंगे उस का परमेश्वरपरक अर्थ कैसे सम्भव है ?

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने भी त्रिविधप्रक्रिया का स्पष्ट खण्डन करते हुए लिखा है–

"तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृता सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना''''''अथाध्यात्मिक्यश्च उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।"

(निरु० ७।१-२)

इस निरुक्त वचन की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ऋ० भा० भू० में लिखते हैं–'वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात्

दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को ।"(ऋ० भू०, प्रश्नोत्तर०)

यहां महर्षि ने कितना स्पष्ट लिखा है कि कोई मन्त्र दृश्य अर्थों का कोई अदृश्य अर्थों का और कोई आत्मा-परमात्मा का वर्णन करता है । अतः प्रत्येक मन्त्र के त्रिविधप्रक्रिया से अर्थ कैसे सम्भव हो सकते हैं ? प्रत्येक मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ भी असम्भव हैं । क्योंकि पदार्थों में कुछ सामान्य और कुछ विशेष गुण, कर्म तथा स्वभाव होते हैं । यदि अग्नि आदि देवता वाले मन्त्र में सभी विशेषणों को अनेकार्थक मानकर मन्त्रार्थ ईश्वर, जीव तथा प्रकृतिपरक सम्भव हो तो ईश्वर, जीव और प्रकृति के गुणों में विशेषता कुछ भी नहीं रहेगी और सभी एक समान ही गुण, कर्म, स्वभाव वाले हो जायेंगे । इस से बड़ा अनर्थ यह हो जायेगा कि जड़ चेतन में तथा ईश्वर-जीव में कोई भेद ही नहीं रहेगा । वैशेषिक-दर्शन के अनुसार पदार्थों में कुछ समानता और कुछ विशेषता होती है तदनुसार ही महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'अग्नि' आदि के विशेषणों को दृष्टि में रखते हुए कहीं ईश्वर और भौतिक दोनों अर्थ, कहीं केवल ईश्वरपरक और कहीं केवल भौतिक अर्थ किया है । यही प्राचीन वेद-भाष्यकर्त्ता ऋषियों का युक्तियुक्त सिद्धान्त है ।

मन्त्रों के अनेकार्थ विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं–

"इस वेदभाष्य में जिस-जिस मन्त्र के श्लेषालङ्कारादि से प्रमाण-सहित पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थों का सम्भव है, उस मन्त्र के दो दो अर्थ किये जायेंगे ।" (ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय)

अतः प्रत्येक मन्त्र के तीन अर्थ सम्भव हैं, यह मान्यता महर्षि दयानन्द के लेखों से कथञ्चिदपि सिद्ध नहीं होती । अतः विद्वानों की त्रिविधप्रक्रिया की जैसी मान्यताएं कपोल कल्पित होने से मिथ्या ही हैं ।

(४) **सृष्टिसंवत्**–महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोत्पत्ति' विषय में सृष्टिसंवत् के विषय में बहुत ही स्पष्ट तथा प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि वेदोत्पत्ति तथा जगदुत्पत्ति का ऐतिहासिक संवत् एक अरब छानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नौ सौ छिहत्तर वर्ष (१९६०८५२९७६ वर्ष) सं० १९३३ वि० में बनता है । परन्तु आर्यजगत् में महर्षि दयानन्द के लेख के विरुद्ध एक अरब सत्तानवे करोड़ वाला सृष्टिसंवत् ही व्यवहार में लाया जा रहा है । इस में कुछ आर्य-विद्वानों की मिथ्या मान्यता तो कारण है ही, किन्तु हमारी शिरोमणि सभा (सार्वदेशिक-सभा) का भी कम दोष नहीं है । क्योंकि बार-बार सचेत तथा प्रबुद्ध करने पर भी सभाधिकारी न तो कोई उत्तर देते हैं और नहीं विद्वत्-सभा में निर्णयार्थ ही इस विषय को रखते हैं। यह आर्य-जगत् का जहां महादुर्भाग्य है, वहां आर्यों की ललाट-पट्टिका पर महाकलङ्क भी है क्योंकि सत्य-असत्य के ग्रहण व त्याग करने में सदा उद्यत रहने वाले आर्य क्या दूसरों को ही उपदेश देते रहेंगे ? क्या वे स्वयं सत्य-पक्ष को ग्रहण करने में हठवश संकोच ही करते रहेंगे ?

हमारे ट्रस्ट ने सृष्टिसंवत् विषय में दयानन्दसन्देश का विशेषाङ्क भी निकाला है, जिस का आर्य विद्वान् आज तक कोई उत्तर नहीं दे सके हैं । सृष्टिसंवत् का विषय गणित का प्रश्न है । उस में तो एक वर्ष का भी अन्तर नहीं रहना चाहिए परन्तु उस में करोड़ों वर्षों का अन्तर मानकर उसी का व्यवहार करना कैसी विचित्र विडम्बना है ?

अपनी मिथ्या-मान्यता को दुराग्रहवश सिद्ध करने के लिए कुछ विद्वानों ने पौराणिक-कल्पनाओं अर्थात् सन्धि-काल (जल-प्लव) आदि का आश्रय ही नहीं लिया है; अपितु श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने महर्षि के ग्रन्थों में टिप्पणी देकर महर्षि की त्रुटि दिखाने का भी दुस्साहस किया है ।

महर्षि के समस्त ग्रन्थों में सृष्टिसंवत् विषय में सर्वत्र एकरूपता देखने को मिलती है । यदि कहीं गणना में त्रुटि रह जाती है तो अन्यत्र तो त्रुटि नहीं होनी चाहिए । क्या कोई विद्वान् उन की गणना में एक अङ्क की भी भूल दिखा सकता है ? कुछ विद्वान् इसे ज्योतिष् का विषय कहकर पराङ्मुख हो जाते हैं । क्या ज्योतिष् के विद्वान् समाप्त ही हो गए हैं ? जो विषय का निर्णय नहीं कराया जा सकता। अपनी मान्यता की सिद्धि के लिए वे विद्वान् वर्तमान में उपलब्ध मयासुर रचित 'सूर्यसिद्धान्त' का आश्रय लेते हैं । हम ने उस 'सूर्यसिद्धान्त' के भी परस्पर-विरोध विद्वानों के समक्ष रक्खे हैं । जिन की सङ्गति लगाने में कोई भी विद्वान् समर्थ नहीं हो सका है । पौराणिक ज्योतिषियों ने तो अपने पत्रे पर ऋषि की मान्यता वाला संवत् लिखना आरम्भ भी कर दिया है । किन्तु हमारी शिरोमणि सभा अभी तक हठतावश मयासुर के मार्ग पर चल रही है जिस में स्वयम् उस के ग्रन्थ में परस्पर विरोध है तथा गणना के एवम् अनेक प्रकार के सैद्धान्तिक दोष उत्पन्न होते हैं ।

सृष्टिसंवत् विषय में हमारी स्पष्ट मान्यता है कि महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट सृष्टिसंवत् सर्वथा शुद्ध है । और उस में मनुस्मृति तथा ज्योतिष् के ग्रन्थों से गणना में कोई विरोध नहीं है । विरोध है तो मिथ्या कल्पनाओं में है । हम इस विषय में विचार-विमर्श के लिए सर्वदा निष्पक्ष भाव से उद्यत हैं । इस विषय में दयानन्दसन्देश का 'सृष्टिसंवत् विशेषाङ्क' पढ़ना चाहिए । जिस में इस विषय के विभिन्न पक्षों पर सयुक्तिक तथा सप्रमाण विचार किया गया है ।

(५) **हृदय का स्थान**—महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में छान्दोग्य उपनिषत् का प्रमाण देकर हृदय के स्थान के विषय में लिखा है—"जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहे, उस समय इस रीति से करे कि—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय-देश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उस के बीच में जो गर्त है, उस में कमल के आकार वेश्म=अवकाश रूप एक स्थान है, उस के बीच में वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर खोज करने से मिल जाता है ।" (ऋ० भा० भू० उपासनाविषय)

इस स्थल पर श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने टिप्पणी देते हुए लिखा है—"यहां हृदय-देश का जो लक्षण भाषा में लिखा है, वह संस्कृत में नहीं तथा यह लोक प्रसिद्ध हृदय-स्थान को लक्ष्य में रख कर अनुवादक पण्डितों द्वारा किया गया लक्षण प्रतीत होता है ।"

यहां श्री मीमांसक जी ने भूमिका की भाषा को पण्डितों का अनुवाद बताकर उस के बहाने महर्षि दयानन्द की मान्यता का स्पष्ट खण्डन किया है । भूमिका का भाषार्थ पण्डितों का किया है, यह एक मिथ्या मान्यता है, यह पूर्व लिख चुके हैं । हृदय का लक्षण क्या है ? यह महर्षि के अन्य ग्रन्थों से मिलाकर यदि मीमांसक जी विचार करते तो ऐसा कदापि न लिखते । महर्षि ने पञ्चमहायज्ञविधि में सन्ध्या के इन्द्रिय-स्पर्शमन्त्र तथा मार्जनमन्त्र में कण्ठ और नाभि-प्रदेश के बीच में हृदय देश का स्पष्ट उल्लेख किया है । और सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समु० में महर्षि लिखते हैं—'आचमन उतने जल को हथेली में लेके उस के मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुंचे ।' यहां भी महर्षि ने हृदय को कण्ठ के नीचे माना है।

परन्तु श्री मीमांसक जी महर्षि के लेख को अपनी मान्यता के अनुकूल न पाकर टिप्पणी दे गए । और आगे (पृ० २०६, टि० सं० २ पर) आपने अपनी मान्यता को स्पष्ट भी किया है—"मन्त्रों में जिस हिरण्यमय कोशान्तर्गत ब्रह्मपुर में आत्मारूपी और ब्रह्म की प्रतिष्ठा बताई है वह

मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाचक्र समीपवर्ती स्थान है ।"

इस से स्पष्ट है कि मीमांसक जी हृदय-देश को मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाचक्र के समीप मानते हैं । परन्तु यह उन की मान्यता स्वयं कल्पित है और महर्षि के लेख के विरुद्ध है । महर्षि हृदय और मस्तक स्थानों को भिन्न-भिन्न मानते हुए लिखते हैं–

"(धारणा) उस को कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभागादि देशों में स्थिर करके ओङ्कार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उस का विचार करना ।" (ऋ० भू० उपासना०)

अत: ऋ० भू० में जो हृदय का स्थान कण्ठ के नीचे माना है वह सत्य है । उस के विरुद्ध महर्षि के ग्रन्थों में भ्रान्तिजनक टिप्पणी देना विद्वानों के लिए शोभा नहीं देता । इस पर विस्तृत विचार ट्रस्ट की पूर्व-प्रकाशित भूमिका के प्राक्कथन में भी श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने सप्रमाण किया है । पाठक वहां देख सकते हैं ।

(६) **श्री आचार्य विश्वश्रवा की भ्रान्ति**–श्री आचार्य जी ने १४।११।७६ के आर्यमित्र पत्र में एक लेख दिया है । उस में आप लिखते हैं–

"दो व्यक्तियों ने महर्षि के यजुर्वेद-भाष्य पर टीका न करके दूसरे ढांचे में वेद-भाष्य का स्वरूपाधान किया । जिस शैली को स्वयं स्वामी जी ने छोड़कर पदार्थ, अन्वय, भावार्थ की शैली अपनाई। वे दोनों के ग्रन्थ भी मुद्रित हैं । मैं उस अनर्थ की चर्चा नहीं करता ।"

यहां आचार्य जी ने पता नहीं किस भय से ट्रस्ट का नाम नहीं लिया है । प्रतीत हो रहा है कि अन्तरात्मा तो इस मिथ्या बात को लिखने के लिए सन्नद्ध नहीं था, परन्तु दुष्प्रकृति अपने स्वभाव को कैसे छोड़ती । आचार्य जी का आक्षेप यह है कि पदार्थ और अन्वय को इकट्ठा नहीं छापना चाहिए । यह महर्षि की शैली नहीं परन्तु क्या आचार्य जी बता सकते हैं कि महर्षि के भाष्य में जो भाषार्थ छपा हुआ है, क्या वह सान्वय-पदार्थ नहीं है जिस को महर्षि ने स्वयं देखकर पण्डितों को वैसा ही भाषार्थ करने की प्रेरणा बार-बार दी थी ? क्या सान्वय पदार्थ के विना मन्त्रार्थ हृदयङ्गम हो सकता है ? कैसी विक्षिप्त जन की भांति आचार्य जी की बात है जो वेदभाष्य के श्रेष्ठ-कार्य की भी असूया दृष्टि से निन्दा करते फिरते हैं और अपने को महर्षि दयानन्द का अनन्य भक्त बताकर भोली आर्य जनता को ठगते रहते हैं और अपनी पुस्तकों में महर्षि दयानन्द की मान्यता का खण्डन करते रहते हैं ।

परोपकारिणी सभा से छपे वेदभाष्यों पर पहले भाषार्थ का शीर्षक "पदार्थान्वयभाषार्थ" लिखा हुआ आता था किन्तु अब श्री आचार्य विश्वश्रवा जी ने केवल "पदार्थ:"–लिखाकर पाठ-परिवर्तन (संशोधन) करा दिया है । उत्तराधिकारी सभा से उन के ग्रन्थों में सहस्रों स्थानों पर इतना भारी पाठ परिवर्तन कराना जघन्य पाप है । संशोधकों के दृष्टिदीप से अब भी कहीं कहीं, "पदार्थान्वयभाषार्थ" लिखा हुआ मिलता है एवं वहां भाषार्थ दोनों को मिला कर ही कराया और किया गया है जिस से स्पष्ट सिद्ध है कि यह शैली ऋषि दयानन्द की है । आचार्य जी का इस शैली को दोष युक्त बताना सीधा ऋषि पर आक्षेप है ।

स्थालीपुलाक-न्याय से आचार्य जी की महर्षि की वि-भक्ति का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । महर्षि ने ऋ० भू० के प्रश्नोत्तर विषय में लिखा है कि मन्त्रों के प्रारम्भ में जो ऋषियों के नाम लिखे हैं, वे ऐतिहासिक पुरुष हैं । उनकी मन्त्रार्थ में कोई सहायता नहीं लेनी पड़ती है । महर्षि

लिखते हैं–

"जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है ।" परन्तु श्री आचार्य जी महर्षि के विरुद्ध लिखते हुए भी सङ्कोच नहीं कर सके । और स्वयं कल्पित मान्यता वश मन्त्रों के प्रारम्भ में लिखे ऋषियों को मन्त्रार्थ में सहयोगी मानते हैं । देखिए उनका लेख–

'मन्त्रार्थ-ज्ञान में जहां देवता और छन्द सहायक हैं, वहां ऋषि-ज्ञान भी मन्त्रार्थ में सहायक है । वेङ्कट-माधव ने ऋग्वेद प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे' के व्याख्यान में लिखा है–

'अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम् ।'

अर्थात् अर्थ-ज्ञान में ऋषि-ज्ञान अत्यन्त उपकारक है । और वह इस प्रकार कि मन्त्रों के जो ऋषि प्रत्येक मन्त्र पर लिखे हैं, ये ऋषि सर्वप्रथम मन्त्र के प्रचारक हैं । इन के अपने निजी नाम अन्य थे और जब ये ऋषि किसी विशेष मन्त्र के प्रचारक बने तब इन का नाम इस प्रकार प्रसिद्ध हुआ कि जिस नाम के अर्थ का सम्बन्ध मन्त्रार्थ से था । विश्वामित्र का पहला नाम विश्वरथ था, जब ऋषि बना तब उसका नाम विश्वामित्र हुआ, ऐसा कहा जाता है ।

(सन्ध्या-पद्धतिमीमांसा, पृ० २४१-२४२)

समीक्षा–यहां आचार्य जी ने देवता के समान छन्द तथा ऋषियों को मन्त्रार्थ में सहायक माना है । यह उनकी अनार्ष मान्यता है । महर्षि दयानन्द ने निरुक्त का प्रमाण देकर लिखा है–

(क) **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'** । (नि० १।२०)

कीदृशा ऋषयो भवन्ति इत्यत्राह । यतः 'साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ताः, यैः सर्वा विद्याः यथावद् विदिताः । येऽवरेभ्यो ह्यसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् मन्त्रार्थांश्च सम्प्रादुः= प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाताः ।' **(ऋषिदयानन्दभाष्यम्)**

अर्थ–ऋषि कैसे होते हैं ? जो धर्म को साक्षात् करने वाले आप्त पुरुष होते हैं, जो सब विद्याओं को यथावत् जानते हैं । वे दूसरे धर्म को साक्षात् करने में असमर्थ मनुष्यों के लिए उपदेश से वेद-मन्त्रों व उन के अर्थों को प्रकाशित करने के कारण ऋषि कहलाते हैं ।

(ख) **'ऋषिप्रशंसा चैवमुच्चावचैरभिप्रायै ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।'**(निरु० ७।३)

इयमेव ऋषीणां प्रशंसा यतस्ते एवमुच्चावचैर्महदल्पाभिप्रायैर्मन्त्रार्थैर्विदितैः प्रशंसनीया भवन्ति । तेषामृषीणां मन्त्रेषु दृष्टयोऽर्थादत्यन्तपुरुषार्थेन मन्त्रार्थानां यथावद् दर्शनानि ज्ञानानि भवन्ति, तस्मात्ते पूज्याः सत्कर्तव्या आसन्निति । (ऋषिदयानन्दभाष्यम्)

अर्थ–यही ऋषियों की प्रशंसा है, क्योंकि वे गम्भीर व सामान्य अभिप्राय वाले मन्त्रार्थों को जानने से प्रशंसनीय होते हैं । उन ऋषियों की मन्त्रों में दृष्टियां अर्थात् वे अत्यन्त पुरुषार्थ से मन्त्रों के अर्थों को ठीक-ठीक जानते हैं । अतः वे पूजा के योग्य बने ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि महर्षि दयानन्द ने कहीं भी ऋषि नामों को मन्त्रार्थ में सहायक होने की बात नहीं लिखी और अपने वेद-भाष्य में किसी भी मन्त्र के अर्थ में ऋषि नाम की सहायता नहीं ली । और अपनी मान्यता का स्पष्ट निर्देश ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है । जिस से श्री विश्वश्रवा जी की पौराणिक कल्पना का खण्डन हो जाता है । देखिए–

'वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तद्ऋषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः ? यैरीश्वर-ध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य

प्रकाशितत्वात् । तत्कृतमहोपकार-स्मरणार्थं तन्नामोल्लेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्ति ।'
(ऋ० भा० भू०)

अर्थ—जब प्राचीन ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे उन में से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया उस-उस का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा है । और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े प्रयत्न के साथ वेद-मन्त्रों का अर्थ जानकर सब मनुष्यों के महोपकार के लिए प्रकाशित किया है, उस उपकार की स्मृति के लिए ही मन्त्रों के प्रारम्भ में ऋषियों के नाम लिखे हैं ।

आचार्य विश्वश्रवा जी ने अपनी मान्यता की पुष्टि में वेङ्कटमाधव का एक श्लोक उद्धृत किया है । यह भी कितने आश्चर्य की बात है महर्षि दयानन्द को निर्भ्रान्त साक्षात्कृतधर्मा आप्त पुरुष मानने वाले आचार्य जी उन्हीं के विरुद्ध वेङ्कटमाधव का प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं । यह भी इसलिए कि आर्यसमाज सायणाचार्य का तो प्रबल खण्डन करता है, अतः उसका नाम न देकर वेङ्कटमाधव के नाम से लोग मान जायेंगे । क्या यह स्पष्ट धोखा नहीं है ? क्योंकि वेङ्कटमाधव का भाष्य तो सायण का ही अनुसरण करता है ।

श्री आचार्य जी लिखते हैं—पञ्चमहायज्ञविधि में **'चित्रं देवानाम्०'** (७।४२) यजुर्वेद का ऋषि कुत्स है । 'कुत्स=जो बन्धनों को काट रहा है अर्थात् साधारण युञ्जान उपासक'—यह कुत्स का अर्थ दिखा कर लिखा है कि 'पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्यापद्धति सर्वसाधारण युञ्जान के लिए है और संस्कारविधि की विशेष उपासक युक्त के लिए ।' (सन्ध्यापद्धतिमीमांसा, पृ० २४१-२४२)

यहां आचार्य जी की विचित्र कल्पना देखिए कि 'चित्रं देवानाम्' मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है। उसके आधार पर पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्या साधारण उपासक अर्थात् गृहस्थियों के लिए है और 'चित्रं देवानाम्०' यजु० १३।४६ मन्त्र का ऋषि 'विरूप' है । जिस के आधार पर संस्कारविधि की सन्ध्या योगियों के लिए आचार्य जी मानते हैं । क्या आचार्य जी बता सकते हैं कि सन्ध्या में और मन्त्र भी तो हैं **उनके ऋषियों के अर्थ कहां और कैसे सहायक हुए ? और यह कैसी विचित्र बात है कि संस्कारविधि में गृहस्थाश्रम में लिखी सन्ध्या योगियों के लिए कैसे हो गई ?** उसे गृहस्थियों के लिए तो मान भी सकते थे । अतः आचार्य जी अपनी कल्पनाओं की उड़ान में ही यह सब लिख गये । महर्षि दयानन्द ने तो अपने बेद-भाष्य में कहीं भी 'कुत्स' का युञ्जान या उपासक अर्थ नहीं लिखा है । यह अर्थ भी आप को कल्पना से ही सूझा है ।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि की सन्ध्या में संशोधन ही किया है । जहां पञ्चमहायज्ञों में संशोधन की आवश्यकता न थी, वहां नहीं किया । जैसे पितृयज्ञ (संस्कारविधि) को देखा जा सकता है । किन्तु दोनों सन्ध्याओं में भेद करना स्वामी जी को अभीष्ट न था । अतः दोनों सन्ध्याओं का भेद भी आचार्य जी की अपनी कल्पना ही है ।

यहां 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से सम्बद्ध कुछ आर्य विद्वानों की भ्रान्तियों पर ही विचार किया गया है । और इन का निराकरण स्वयं भूमिका के स्वाध्याय से भी पाठक कर सकते हैं । महर्षि के वैदिक सिद्धान्तों तथा वेद-भाष्य को तो इस भूमिका के विना कदापि नहीं समझा जा सकता । हम ने भी आर्य विद्वानों की भ्रान्तियों के विषय में जो कुछ लिखा है, वह इस भूमिका के आधार पर ही लिखा है । किसी से किसी प्रकार का द्वेष-भाव रखकर नहीं । गुणगृह्य आर्य-विद्वान् इसे पढ़कर यदि कोई हमारी त्रुटि अनुभव करें तो निष्पक्ष होकर हमें बतायें । हम उन का हृदय से आभार मानेंगे और जो महर्षि के ग्रन्थों के अनुकूल है, उसे स्वयं भी स्वीकार कर विद्वत्ता का परिचय देंगे ।

महर्षि दयानन्द का ही वेद-भाष्य क्यों पढ़ें-

महर्षि-दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर इस प्रकार लिखा है-

(क) 'जब मेरा वेद-भाष्य पूर्ण हो जायेगा तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जायेगा कि मेरे सिद्धान्त वेदानुकूल हैं ।' (भ्रान्तिनिवारण, पृ० ३)

(ख) 'मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष को नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरे सिद्धान्त वेदानुकूल हैं ।' (भ्रान्तिनिवारण, पृ० ४)

(ग) 'परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेद-भाष्य पूर्ण हो जाए तो निस्सन्देह आर्यावर्त्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जायेगा कि जिस को मेटने और झांपने का किसी को सामर्थ्य न होगा । क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं है कि जिस को कोई सुगमता से उखाड़ सके ।' (भ्रान्तिनिवारण, पृ० ४)

(घ) 'इस वेद-भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है, वह सब सज्जन लोगों के आत्माओं में यथावत् प्रकाशित होगा । तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जो व्याख्यान किए हैं, उन की निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य होगी ।' (पत्र और विज्ञापन, पृ० ३६)

(ङ) 'यह भाष्य ऐसा होगा कि जिस से वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं में वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायेंगे और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध होगा कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें ।' (ऋ० भा० भूमिका, पृ० २)

(च) 'जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है । यही इस में अपूर्वता है ।' (ऋ० भा० भूमिका भाष्यकरण शङ्कासमा०)

इन महर्षि के स्वयं हृदयस्थ-उद्गारों से अनुप्राणित महर्षि के वेद-भाष्य को यदि पाठक जानना चाहते हैं और 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है' इस महर्षि के अपूर्व वचन का यदि विद्याप्रेमी जिज्ञासु विद्वज्जन यथार्थ रूप देखना चाहते हैं, और ईश्वरोक्त वेद शाश्वत हैं, इस में परस्पर विरोधी, सृष्टिनियम से प्रतिकूल, अवैज्ञानिक तथा असङ्गत बातें नहीं हैं, इसे जानने की यदि आप लेशमात्र भी इच्छा रखते हैं अथवा हृदय से सत्यासत्य का निष्पक्ष निर्णय चाहते हैं तो महर्षि के वेद-भाष्य को पढ़िये । हमारे ट्रस्ट ने अथक परिश्रम एवं लग्न से वैदिक विद्वानों को नियुक्त कर महर्षि के सम्पूर्ण वेद-भाष्य को सव्याख्या छापने का एक महान् कार्य प्रारम्भ कर रखा है । यजुर्वेद सम्पूर्ण भाष्य छपकर तैयार है और ऋग्वेद का भाष्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित शीघ्र ही छपकर पाठकों की सेवा में आने वाला है । महर्षि के वेद-भाष्य को समझने के लिए महर्षि लिखित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को अवश्य पढ़िये । महर्षि स्वयं यह आदेश दे गए हैं कि मेरा भाष्य भूमिका के विना समझ में नहीं आ सकता । अतः वेद-भाष्य को भूमिका के विना न बेचा जाए देखिए । महर्षि के वचन-

"जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लिया चाहे, सो नहीं मिल सकते ।"

(पत्र और विज्ञापन, पृ० १८ [illegible])

महर्षि के वेद-भाष्य को न समझने का मुख्य कारण यही है कि आर्यसमाज ने महर्षि के

आदेश का पालन नहीं किया । आज तक सभी वेद-भाष्यों के प्रकाशन भूमिका रहित ही मिलते हैं । ट्रस्ट के अधिकारियों का यह भूमिका-सहित वेद-भाष्य प्रकाशन का कार्य अत्यन्त ही प्रशंसनीय तथा उपयोगी सिद्ध होगा । अतः वे भूरि-भूरि प्रशंसा के अधिकारी हैं । निष्पक्ष विद्वान् इस कार्य की सदा हृदय से अवश्य प्रशंसा करेंगे ऐसा मैं समझता हूं ।

इस संस्करण की विशेषता

महर्षि-दयानन्द ने सर्वप्रथम ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रकाशन अङ्कों के रूप में किया था । यह ग्रन्थ १६ अङ्कों में पूरा हुआ था । इस प्रथम संस्करण का प्रकाशन-कार्य संवत् १९३४ वि० में लाजरस प्रेस, काशी में हुआ । इस के १४ अङ्क इसी प्रेस में छपे । १५वां और १६वां अङ्क निर्णयसागर प्रेस, बम्बई में छपा । ऋषि के जीवन-काल में छपा यही प्रथम-संस्करण पूर्ण रूप से प्रामाणिक है । हमारे ट्रस्ट ने इसी प्रथम मूल संस्करण की प्रतिकृति (फोटोप्रिण्ट) कुछ वर्ष पहले पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की थी । वह भी इसलिए आवश्यक हुआ कि आजकल महर्षि के ग्रन्थों में संशोधन के नाम से मूलपाठ को भ्रष्ट किया जाने लगा है । जिससे लेखक की मूल मान्यताओं का ही अनेक स्थानों पर खण्डन होने लगा जो ऋषिभक्त जिज्ञासु महर्षि-ग्रन्थों को विशुद्ध रूप में पढ़ना चाहते हैं एवं सत्य मूल पाठ को जानना चाहते हैं, उन के लिए तथा संशोधनों की प्रवल धारा को समाप्त करने के लिए फोटोप्रिण्ट करवाना आवश्यक था । यह संस्करण भी उसी फोटोप्रिण्ट से अक्षरशः मिलान करके छापा गया है । साथ ही परोपकारिणी सभा (अजमेर) के 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के संस्करण से मिलान करके शुद्ध प्रकाशन करने का पूर्ण प्रयास किया है । मन्त्रों पर लगे स्वर-चिह्नों का मूलवेद से भी मिलान किया है ।

टीका टिप्पणियों का इस में कोई स्थान नहीं रखा है । अपनी मान्यताओं के आधार पर महर्षि के ग्रन्थों पर उन के पाठों के विरुद्ध टिप्पणियों में लिखना कदापि न्याय्य नहीं है । यदि ये सम्पादक इस कृत्य को न्याय्य समझते हैं तो वे अपने तैयार किए गए ग्रन्थों पर टिप्पणियां देने का अधिकार अपने ग्रन्थों में अन्यों को दें । किन्तु यह तथ्य है वे ऐसा कदापि नहीं करेंगे क्योंकि वे कदापि ऐसा उचित नहीं समझते । पुनः आत्मविरुद्ध होने से यह कृत्य अधर्म क्यों नहीं ? हमारे अनेक बार लिखने पर भी आज तक ऐसे किसी भी सम्पादक ने टिप्पणियां क्यों ? और इसके आधार क्या-क्या होंगे नहीं लिखा है, यदि ऐसा स्पष्ट करें तो इस कृत्य के दोषों की कलई स्वयं खुल जाये । किन्तु इस कृत्य के विषय में सम्पादकीय में कुछ भी स्पष्ट नहीं करते हुए चुपके से इस कृत्य को ऋषि-ग्रन्थों में करते जा रहे हैं । विराम-चिह्नों को पाठकों के लिए उपयोगी समझकर यथास्थान रखने का पूरा प्रयत्न किया गया है । पुनरपि विद्वान् पाठकों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें कहीं कोई किसी भी प्रकार की त्रुटि प्रतीत हो तो अवश्य सूचित करें । जिस से भविष्य में उन की पुनरावृत्ति न हो सके । अनेक प्रयत्न करने पर भी मानवीय स्वभाववश प्रेस के कारण त्रुटियां हो सकती हैं । तदर्थ विद्वानों से क्षमा चाहता हूं । और प्रार्थना करता हूं-

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः । हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

स्थानम्-नरेला (दिल्ली)
मार्गशीर्ष शुक्ला, त्रयोदशी, सं० २०३३ विक्रमी ।

विद्वच्चरणचञ्चरीकः-
राजवीर शास्त्री

प्रथम संस्करण से—

प्राक्कथन

महर्षि की मान्यता है—सर्वतन्त्र सिद्धान्त—महर्षि दयानन्द ने अपने समस्त ग्रन्थों में उन्हीं सत्य सिद्धान्तों तथा मान्यताओं का सप्रमाण प्रतिपादन किया है, जो वेदादि सच्छास्त्रों के अनुकूल हैं और जिन्हें ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त समस्त आप्तपुरुष, मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि-मुनियों ने एकमत से स्वीकार किया है । महर्षि अपनी मान्यता को स्वयं स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिन को कि मैं भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं । मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सब को एक सा मानने योग्य है । मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है ।" (सत्यार्थ० स्वमन्तव्यामन्तव्य०)

प्रमाणों का महत्त्व—महर्षि ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के अनुसार ही अपने ग्रन्थों में वेदादि सत्य-शास्त्रों के प्रमाण पर्याप्त रूप में लिखे हैं, क्योंकि "लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्न प्रतिज्ञामात्रेण ।" लक्षण व प्रमाणों से ही किसी वस्तु की सिद्धि होती है, केवल प्रतिज्ञामात्र से नहीं। लक्षण-प्रमाण से हीन बात को कौन विद्वान् स्वीकार करेगा ? सन्दिग्ध या विवादास्पद विषय की परीक्षा के लिए महर्षि ने (सत्यार्थ० तृतीय में) जो पांच प्रकार दिखाए हैं, उन में प्रमाणों का अपना विशेष स्थान है । महर्षि प्रमाणों के लिए आवश्यक निर्देश देते हुए लिखते हैं—"जिस को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपात रहित विद्वान् मानते हैं, वही सब को मन्तव्य और जिस को नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता ।"

(सत्यार्थ० स्वमन्तव्यामन्तव्य०)

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायनमुनि प्रमाण का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—

"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम् ।
प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् ।
प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा ॥"

अर्थात् विना प्रमाण के किसी पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है और पदार्थ-ज्ञान के विना उस में प्रवृत्ति नहीं होती । क्योंकि ज्ञाता=जानने वाला प्रथम पदार्थ का ज्ञान करता है और तदनन्तर उस को ग्रहण करने या छोड़ने की इच्छा करता है । यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह हिताहित को जानकर ही किसी भी कार्य को करता है । और—"सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति ।" (न्याय० वात्स्याय०) और प्रमाण भावात्मक तथा अभावात्मक सभी पदार्थों का तथा उपलब्ध=प्रत्यक्ष व अनुपलब्ध=परोक्ष पदार्थों का भी ज्ञान कराता है ।

प्रमाण किस का मान्य है ?—इस उपर्युक्त प्रमाण की महत्ता होते हुए भी प्रामाणिक किन ग्रन्थों को माना जाए ? यह एक जटिल तथा विवादास्पद प्रश्न है । मिथ्या मत-मतान्तर वाले मनुष्यों ने ऋषि-मुनियों के नाम से अनेक ऐसे ग्रन्थों की रचना कर दी है, कि जिस से आर्ष-अनार्ष, सत्य-असत्य तथा प्रमाण-अप्रमाण का निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जाता है । महर्षि ने अपनी योग-सम्पन्न प्रतिभा के अलौकिक बल से सर्वप्रथम वैदिकवाङ्मय के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित थे, उनका बहुत ही गम्भीराध्ययन तथा विवेक से मन्थन किया और सत्यासत्य का निर्णय हंस की भांति नीर-क्षीर विवेक का अपूर्व कार्य किया और स्पष्ट व निर्भ्रान्त रूप से घोषणा की—

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद ही स्वतःप्रमाण हैं और दूसरे अन्य ग्रन्थ परतः-प्रमाण हैं ।"

और यही घोषणा प्राचीन ऋषियों ने भी की थी किन्तु लोग उन्हें भूल गये थे । जैसे–

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु०)

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ (वैशे०)

इत्यादि ऋषियों की घोषणाओं को भी महर्षि ने ही हमें स्मरण कराया और जो पक्षपात रहित, निर्भ्रान्त तथा साक्षाद्द्रष्टा आप्तपुरुष होते हैं, लोक में भी उन को ही प्रामाणिक माना जाता है । परमात्मा परमाप्त पुरुष, सर्वज्ञ तथा आदि गुरु है, उस का ज्ञान वेद है, वही निर्भ्रान्त होने से सब को परम प्रमाण मानने योग्य है । ऋषियों से निर्मित दूसरे शास्त्रों को भी महर्षि ने परम प्रामाणिक माना है । किसी शास्त्रीय विषय में विरोध या सन्देह हो तो स्वतः-प्रमाण वेद का ही मानना चाहिए ।

महर्षि दयानन्द ने देखा कि अनेक ग्रन्थ ऋषियों के नाम से लिखे हुए हैं और अनेकों आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप हैं उन से लोगों को सचेत रहना आवश्यक है । चार वेदों में उक्त दोष नहीं है । आर्ष ग्रन्थ तो इन वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं । आर्ष-व्याख्या मूल से विरुद्ध नहीं है । अतः आर्षग्रन्थ परतः प्रमाण और वेद स्वतः-प्रमाण हैं । आर्षग्रन्थों से अतिरिक्त विद्वानों के वचनों को परतः प्रमाण कहीं नहीं माना एवम् आर्ष वचनों के समान उनका आदर नहीं किया । स्वतः और परतः का भेद करते हुए लोगों में इस समय भ्रान्ति भी दृष्टिगोचर होती है । महर्षि के ग्रन्थों में कहीं भी ऋषियों के वचनों का खण्डन नहीं मिलता । किन्तु वेद और ऋषियों के ग्रन्थों का भेद करना तो आवश्यक है वेद को जानने के लिए व्याख्यान-ग्रन्थ आवश्यक हैं वे उन्होंने आर्षग्रन्थ ही स्वीकार किये हैं ।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम पृष्ठ पर महर्षि ने लिखा है कि यह ग्रन्थ **"वेदादिविविध-संच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः"** वेदादि के प्रमाणों से समन्वित है । जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही ज्ञान के सूर्य वेदों के प्रकाश में समस्त भ्रान्तधारणाओं, मिथ्यामान्यताओं तथा अविद्या की मिथ्या बातों का स्वतः ही उन्मूलन हो जाता है ।

महर्षि के अर्थों की विलक्षणता–महर्षि ने जिन प्रमाणों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, उनका सामान्य मनुष्यों के ज्ञान के लिए अर्थ भी किया है । जिन वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों को दूसरे विद्वान् अथवा साम्प्रदायिक पुरुष पढ़कर भी सत्यार्थ को नहीं समझ पाते थे, अथवा दुराग्रह वश उन का मिथ्या अर्थ बताकर जन-साधारण में अनेक भ्रान्तियां फैलाया करते थे, महर्षि ने उन का सप्रमाण ऐसा सत्य एवं विलक्षण अर्थ किया है, जिन को पढ़-पढ़कर विद्वान् भी स्तब्ध रह जाते हैं और पौनःपुन्येन पढ़कर भी तृप्त नहीं होते । जब किसी विषय पर संशय या भ्रम पैदा हो जाता है, उस का निवारण फिर से महर्षि-कृत अर्थ को पढ़कर ही विद्वान् कर पाते हैं । महर्षि-कृत अर्थों में वह सत्यार्थता गूढ़ता से सन्निहित है, जिस के कारण साम्प्रदायिक विधर्मी लोग आज तक सौ वर्षों के बाद भी उनके सत्यार्थों का प्रत्याख्यान नहीं कर सके । यह महर्षि कृत अर्थों की विलक्षणता तथा अपूर्वता ही है ।

यद्यपि महर्षि के आगमन से पूर्व मध्यकालीन पौराणिक विद्वान् सायणादि के वेद-भाष्य भी विद्यमान थे, किन्तु उन की त्रुटियों तथा मिथ्यार्थता को साधारण विद्वान् नहीं समझ सके । और मिथ्यार्थों को ही सत्य मानकर पढ़ते-पढ़ाते रहे । अब भी जिन्हें मिथ्याग्रह के कारण ही पढ़ते-पढ़ाते हैं, परन्तु उनमें जो अवैदिक परस्पर विरोधी अवैज्ञानिक मान्यताएं हैं, उन को नहीं समझ सके । समझ भी कैसे सकते ? परमेश्वर के ज्ञान की यथार्थता को परमेश्वर के सान्निध्य से ही जाना जा

सकता है । जो ऋषि तथा तपस्वी नहीं है,[१] उसे वेदार्थ करने का अधिकार ही नहीं है । महर्षि ने सायणादि भाष्यकारों के दोषों का प्रदर्शन करते हुए लिखा है–

(क) "जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं । मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता । क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है ।"

(ख) "और दूसरा इस के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती । और जो-जो भाष्य उव्वट, सायण, महीधरादि ने बनाए हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं ।"

(ग) "इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है । परन्तु जिस समय चारों वेदों का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्यापुस्तक वेद का परमेश्वर रचित होना भूगोलभर में विदित हो जायेगा और यह भी प्रकट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही हैं ।"

(ऋ० भू० भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषयः)

प्रमाण-सूची की आवश्यकता–(१) स्वाध्यायशील पाठक जब ऐसे आप्त-पुरुष मन्त्रार्थ-द्रष्टा महर्षि के ग्रन्थों का अनुशीलन करते हैं तो वे प्रकरण-भेद से अथवा भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में महर्षि-व्याख्यात मन्त्रार्थों को देखना चाहते हैं । महर्षि के विभिन्न स्थानों में व्याख्यात मन्त्रार्थों में अपूर्व विलक्षणता तो है ही, किन्तु कहीं विस्तृत तथा संक्षिप्तरूपता भी है । जिस से किसी-किसी पद का अर्थ प्रकारान्तर से व्याख्या करने से एक स्थान पर स्पष्ट न होने पर दूसरे स्थान पर स्पष्ट हो जाता है । जैसे–'स पर्यगात्०' मन्त्र में 'अस्नाविरम्' पद से विद्वानों को भी सन्देह हो जाता है कि जब परमात्मा को मन्त्र में 'अकायम्' शरीर-रहित कहा है, तो नस-नाड़ी के बन्धन से रहित तो वह स्वयं ही है फिर 'अस्नाविरम्' कहना निरर्थक ही लगता है । किन्तु महर्षि ने इसकी विशेष व्याख्या ऋ० भू० के वेदनित्यत्वविचार में की है–

"(अस्नाविरम्) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बन्धा रहता है, ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता ।"

इस से स्पष्ट है कि जैसे वायु निराकार होने से शरीर-रहित है, किन्तु नाड़ियों में बन्धकर कार्य करता है अथवा साइकिलादि की ट्यूबों में बन्ध जाता है, वैसा परमेश्वर का बन्धन नहीं होता । अतः यदि यह पद मन्त्र में नहीं होता तो परमात्मा के स्वरूप-वर्णन में अपूर्णता ही रहती ।

अतः महर्षि ने एक ही मन्त्र की कहां-कहां व्याख्या की है, इस का सरलता से बोध अकारादि क्रम से बनाई प्रमाण-सूची से ही सम्भव है ।

(२) प्रमाण-सूची की वर्त्तमान में इसलिए भी आवश्यकता होती है कि आज मानव सांसारिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त हो गया है । उसके पास किसी ग्रन्थ का बार-बार अभ्यास करने का समय कहां है । और विना अभ्यास के यह स्मरण नहीं रहता कि किस मन्त्र की कहाँ व्याख्या की है । विद्वान् उपदेष्टा व अनुसन्धान कर्त्ता पुरुषों को तो ऐसी सूचियों की पद-पद पर आवश्यकता रहती है ।

(३) प्राचीनकाल में मन्त्रों व सुभाषित श्लोकों को स्मरण करने की एक सुन्दर परम्परा

---

(१) न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ॥ (निरुक्ते)

प्रचलित थी । हमारे पूर्वज सम्पूर्ण वेद तक को कण्ठस्थ करने में अपना अहोभाग्य समझते थे । किन्तु अब वह परम्परा प्रायः लुप्त होती जा रही है । और मनुष्यों की स्मृति भी मिथ्या-आहारादि के कारण प्राणायामादि स्मृति-वर्धक योगाभ्यास की प्रमुख क्रियाओं के परित्याग से तथा ब्रह्मचर्यादि दैनिक नियमों की अवहेलना करने से अब मन्द हो गई है । वह पढ़कर भी प्रायः भूल जाता है, कि मैंने कहां पर पढ़ा था । वह जानकर भी अनजान सा हो जाता है । ऐसे पुरुष को न तो विद्वान् कहा जा सकता है और न ही अविद्वान् । विद्वान् तो वही है, जिसे विद्या कण्ठस्थ हो । वेद में ऐसे पुरुष के लिए लिखा है–

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ॥"

अर्थात् ऐसा मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देख पाता, और सुनता हुआ भी नहीं सुन सकता । महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य में इस मन्त्र के उपर्युक्त भाग की व्याख्या में लिखा है–"अविद्वांसमाहार्धम्" अर्थात् इस मन्त्र के आधे भाग में अविद्वान् की दशा का वर्णन है । अतः ऐसे विस्मरणशील पुरुषों को ऐसी प्रमाण-सूचियों की महती आवश्यकता है ।

(४) मनुष्य का सामर्थ्य अल्प ही है । वह सब कुछ स्मरण कर भी नहीं सकता । और विद्या का क्षेत्र अपार है । संस्कृत में नीतिज्ञ कवि ने इस बात को इस प्रकार समझाया है–

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम् अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् विद्या का क्षेत्र अनन्त है, मनुष्य की आयु थोड़ी है और उस में भी बहुत प्रकार के विघ्न हैं । इस लिए हंस की भांति जल में से दूध को अर्थात् सार-सार को ही ग्रहण कर लेना चाहिए । इसलिए समस्त बातों का स्मरण रखना कहां सम्भव है ? और आज कल के भिन्न-भिन्न विषयों तथा भाषाओं के बाहुल्य में तो सम्भव ही नहीं । अतः किसी मन्त्र या विषय को सरलता से तथा शीघ्र देखने के लिए प्रमाण-सूची आदि सूचियां ही परम सहायक होती हैं ।

(५) इस प्रमाणसूची से यह भी सरलता से जाना जा सकेगा कि महर्षि ने कितने ग्रन्थों के अध्ययन के बाद उत्तम रत्नों को निकालकर अपने ग्रन्थों की रचना की है । और वे कितने ग्रन्थों को आर्ष (प्रामाणिक) तथा अनार्ष (अप्रामाणिक) मानते हैं, ज़िन से सत्य व असत्य का निर्णय किया जा सकता है । और यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि महर्षि ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि सर्वत्र वेद तथा आर्ष-ग्रन्थों से ही की है ।

उपर्युक्त पाठकों की आवश्यकता तथा कठिनता को ध्यान में रखकर आर्ष-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट ने सन् १९७४ में महर्षि के समस्त ग्रन्थों के प्रमाणों की एक सूची प्रकाशित की थी । जिस का संकलन तथा सम्पादन चिरञ्जीव श्री धर्मपाल जी आचार्य ने बहुत ही परिश्रम तथा योग्यता से किया था । विद्वानों, पाठकों ने उस परमोपयोगी ग्रन्थ को बहुत ही सहायक पाया और इस प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

भ्रान्तियों का निवारण–प्रस्तुत प्रमाणसूचियों से जहां उपर्युक्त पाठकों को सहायता मिलेगी, वहां अनेक भ्रान्तियों का भी उन्मूलन हो जायेगा । जैसे–

(१) कुछ विद्वानों का भाषण तथा शास्त्रार्थादि के समय यह प्रयास रहता है कि वे अपने सिद्धान्तों की पुष्टि अनार्ष तथा पौराणिक साहित्य से करते हैं । उन का कथन यह है कि इस से उन ग्रन्थों के मानने वालों पर विशेष प्रभाव पड़ता है । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जिन ग्रन्थों के प्रमाण आप दे रहे हैं, दूसरे विपक्षी उन्हीं पुस्तकों से आप के पक्ष का खण्डन भी करेंगे, तब

क्या उत्तर दे पाओगे ? अतः–

"प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥"

अर्थात् कीचड़ लग जायेगा तो धो लेंगे, ऐसा सोचकर कीचड़ से न बचना बुद्धिमत्ता नहीं। विपक्षी विरोध करेंगे, तब वेदादि के प्रमाणों से समाधान कर देंगे, इस से अच्छा यही है कि कीचड़ के समान अथवा विषसम्पृक्त अन्न के समान अप्रामाणिक ग्रन्थों को छोड़ना ही श्रेयस्कर है। इस प्रमाणसूची से स्पष्ट हो जायेगा कि महर्षि ने अपने सर्वतन्त्र सिद्धान्तों की पुष्टि सर्वत्र वैदिक तथा आर्ष प्रमाणों से ही की है। तभी वे वैदिक सिद्धान्तों की सुरक्षा कर सके हैं।

(२) महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वैदिक प्रमाणों के पते तो सर्वत्र दिए हैं, किन्तु वेद से भिन्न ग्रन्थों के पते कर्मकाण्ड के विधिभाग में सर्वत्र नहीं दिए हैं, किन्तु आधुनिक प्रकाशकों ने यह प्रयत्न किया है कि प्रायः सभी प्रमाणों के पूरे पते महर्षि के ग्रन्थों में दिए जाएं। जिन से पाठकों को प्रमाण देखने में सरलता हो सके। किन्तु

"उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथाऽपायमपि चिन्तयेत् ।"

बुद्धिमान् व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि उपाय सोचने के साथ-साथ उस उपाय से होने वाले अपाय को भी सोच लेवे। सोचा तो यह था कि पाठकों को प्रमाण देखने में सरलता हो जायेगी, किन्तु उस पते पर वह पाठ न पाकर अथवा पाठभेद देखकर पाठकों के मन में महर्षि के प्रति अनास्था ही पैदा होती है। और विशेषरूप से यह वहां भ्रान्ति होगी, जहां कर्मकाण्ड में विधि-विधानों का वर्णन किया गया है। संस्कारविधि में विशेष रूप में। किन्तु हम यह स्मरण कराना चाहते हैं कि कर्मकाण्ड में विधि-वाक्यों में ऊहा भी की जाती है और ऊहित-पाठों में पाठ-भेद होना स्वाभाविक ही है। कर्मकाण्ड में ऊहा करने के लिए महर्षि-पतञ्जलि लिखते हैं– **ऊहः खल्वपि–**

न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः ।
ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः ॥ (महाभाष्ये नवाह्निके)

अर्थात् याज्ञिक विधि-विधानों के वैदिक साहित्यों में सब लिङ्गों तथा सब विभक्तियों में मन्त्रों का पाठ नहीं है। यह तो याज्ञिक पुरुष को कर्म के अनुसार उनमें विपरिणाम=लिङ्ग, विभक्ति आदि का परिवर्तन कर लेना चाहिए।

महर्षि-दयानन्द ने इसी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार अपने ग्रन्थों में ऊहित पाठ दिये हैं।

प्रथम प्रकाशित प्रमाण-सूची समस्त ग्रन्थों की इकट्ठी छपी थी। अब यह प्रमाणसूची प्रत्येक ग्रन्थ की पृथक्-पृथक् अकारादि क्रम से बनाई गई है। और इस में प्रमाणों तथा साम्प्रदायिक प्रमाणों की सूची भिन्न-भिन्न करके अकारादि के क्रम से बनायी गयी है। साम्प्रदायिक प्रमाणसूची पृथक् बनाने का तात्पर्य यह है कि उन को महर्षि ने प्रमाणरूप में प्रस्तुत नहीं किया किन्तु उन वचनों की समीक्षा की है। अतः वे प्रमाण नहीं हैं। इस से पाठकों को अधिक सुविधा होगी। इस प्रमाण-सूची के बनाने में विद्वान् बन्धुओं……ने हमें जो परिश्रम तथा सहयोग किया है, तदर्थ हम उन का हृदय से धन्यवाद करते हैं। आशा है कि विद्वान् पाठक इन से पूर्णतया लाभान्वित होंगे और हमारे इन परार्थ-प्रयासों का हृदय से स्वागत करेंगे।

राजवीर शास्त्री
भूपेन्द्रपुरी, (मोदीनगर) उ० प्र०

दिनाङ्क ८।९।१९७८

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की प्रमाण-सूची

इति प्रमाण-सूची ॥

10 marks.

वेदसंज्ञाविचारः
वेदानां नित्यत्वविषयः
सृष्टिविद्याविषयः

मुक्तिविषयः
वेदमन्त्राणामर्थबोधकता विषयः
वेदानां नित्यत्वविचारः
मन्त्राणां त्रैविध्यविचारः

वैदिकमन्त्रस्वरूपम्
ब्राह्मणसाहित्यम्
वेदाध्ययनफलम्

॥ ओ३म् ॥

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-विषय-सूचीपत्रम्